

नियमसार, ३०१ पृष्ठ है इसमें। सबमें यह है ?

श्री मार्गप्रकाश में भी (दो श्लोकों द्वारा) कहा है कि:— यहाँ से शुरु है।

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।

बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ॥

श्लोकार्थः अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार के हैं;... लो ! यहाँ तो चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा कहा। पहले में बहिरात्मा; चौथे से बाहर, अन्तरात्मा, तेरहवें (गुणस्थान में) परमात्मा। आहाहा ! वह अभी विवाद है न ? रयणसार का। कैलाशचन्द्रजी ने कहा है कि रयणसार कुन्दकुन्दाचार्य का नहीं है, तब एक दूसरा 'देवेन्द्र' (नीमच) कोई पण्डित है, उन्होंने बड़ा लेख लिखा है, उनका ही किया हुआ है। प्रवचनसार और समयसार के साथ मिलान खाता है। ऐसे विवाद में आ गये। बड़ी पुस्तक है।

यहाँ तो कहते हैं, अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा

और अन्तरात्मा... आहाहा! ऐसे दो प्रकार के हैं;... अन्य समय, वह दो प्रकार से है। एक बहिरात्मा और एक अन्तरात्मा को अन्य समय में डाला। पूर्ण दशा नहीं न? जैसे पंचास्तिकाय में ज्ञानचेतना केवली को ली है। पंचास्तिकाय में ज्ञानचेतना पाठ है। केवली को ली है; और ऐसे चौथे गुणस्थान से ज्ञानचेतना होती है। पंचाध्यायीकार ने वहाँ ऐसा लिया है। ज्ञानचेतना अर्थात् पुण्य और पाप के विकल्प का चेतना से लक्ष्य न करके अन्तर चैतन्य आनन्द का अनुभव करना, वह ज्ञानचेतना है। वह ज्ञानचेतना चौथे से होती है, तथापि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल पाठ में ज्ञानचेतना केवली को कही है। पण्डितजी!

ज्ञानचेतना। (चेतना) तीन प्रकार की है। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना। कर्मचेतना अर्थात्? राग और द्वेष आदि विकल्प को करना और भोगना, वह कर्मचेतना और उसका फल हर्ष-शोक का भोगना... आहाहा! वह कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना से भिन्न। एक आत्मा को ही ज्ञान में-लक्ष्य में लेकर वेदन करना, वह ज्ञानचेतना। चौथे में आंशिक शुरु होती है, तेरहवें में पूर्ण (होती है)। इसलिए भगवान ने तेरहवें में ही बात ली है। कुन्दकुन्दाचार्य ने तेरहवें में ली है परन्तु ज्ञानचेतना चौथे से होती है। यहाँ अन्य समय बारहवें तक गिना है। समझ में आया?

अन्य समय (अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त जीव)... तेरहवें गुणस्थान में जो केवली परमात्मा हैं, उनके अतिरिक्त बहिरात्मा जो राग और शरीर को अपना माने। बहिर्। अन्तर में चीज नहीं और बहिर् चीज को (अपनी) माने, वह बहिरात्मा है। जो आत्मा है, वह तो आनन्दकन्द प्रभु है। ज्ञान का आनन्द सागर है। अतीन्द्रिय शान्ति का पिण्ड है। उसमें उसे उसका वेदन (होवे), उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। परन्तु लोग बात को पकड़कर वहाँ रहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानचेतना तेरहवें में ली है। वह पूर्ण ली है और नीचे चौथे गुणस्थान से ज्ञानचेतना शुरु होती है। ज्ञानचेतना अर्थात् आत्मा के आनन्द का स्वाद। जो अनादि से निगोद के जीव से द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक में गया परन्तु वेदन राग का था। राग का वेदन, इसलिए वह बहिरात्मा है। आहाहा! क्योंकि वह राग स्वरूप में नहीं है। निजस्वरूप में राग का विकल्प नहीं है, इसलिए उस राग को वेदन करे और अपना माने, वह बहिरात्मा है अर्थात् आत्मा में नहीं है, उसे—बाह्य की चीज को अपनी माने, वह बहिरात्मा। आहाहा! यह शरीर, वाणी और मन और कर्म, यह

स्त्री, पुत्र, परिवार यह सब 'मेरा' माने। जो परचीज़ है, वह अपनी तीन काल में नहीं है। उसमें अपनी माने, वह बहिर्। आत्मा में नहीं, ऐसी बाह्य चीज़ को अपनी माने, वह बहिरात्मा और आत्मा में ज्ञान, आनन्द, शान्ति है; पुण्य-पाप के राग और उसके फल आदि नहीं, उसे (आत्मा का) वेदन करे, वह ज्ञानचेतना। आहाहा!

यहाँ ज्ञानचेतना चौथे से बारहवें तक गिनी है। है मार्गप्रकाश (शास्त्र का आधार)। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में पाठ कहा कि ज्ञानचेतना तेरहवें में होती है परन्तु इससे कहीं चौथे में ज्ञानचेतना नहीं होती और अकेली कर्मचेतना होती है, ऐसा नहीं है। चौथे में समकित से ज्ञानचेतना होती है, कर्मचेतना भी होती है, कर्मफलचेतना तीनों होती है। दो को वह जाने, वेदन करे, तथापि वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! दया, दान का राग आवे परन्तु ज्ञानी वह मेरा स्वरूप है, ऐसा वह धर्मी नहीं मानता। इसलिए उसे अन्तरात्मा कहा है। अन्तर आत्मा में जो नहीं। भले निर्मलता पूर्ण नहीं परन्तु आत्मा में नहीं, उस चीज़ को बाकी करके अकेला आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, शुद्धता के अनन्त गुण से भरपूर... आहाहा! ऐसे आत्मा को माने, तब समकित की शुरुआत होती है। धर्म की पहली सीढ़ी वहाँ से शुरु होती है, आहाहा! और जब तक दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ, (ऐसा माने), तब तक बहिरात्मा है क्योंकि वे वस्तु में नहीं हैं और जहाँ राग-द्वेष का पूर्ण नाश हो गया और अकेली ज्ञानचेतना पूर्ण प्रगट हुई, वह परमात्मा है। आहाहा! समझ में आया?

अन्य समय... अन्य समय अर्थात्? परमात्मा के अतिरिक्त (सब) अन्य समय। केवलज्ञानी परमात्मा... रयणसार में यह आता है। यह श्लोक। पृष्ठ ११५, गाथा १४५। रयणसार। अन्तरात्मा बारहवें तक गिना है। तेरहवें से परमात्मा गिने हैं। अन्य समय, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य समय गिना है। ऐसा यहाँ भी कहते हैं, अन्य समय। आत्मा का वेदन है और साथ में राग तथा द्वेष का वेदन है, उसे यहाँ अन्तरात्मा अन्य समय कहा गया है। अन्तरात्मा अन्य समय। राग और पुण्य मेरे, यह माननेवाला-वेदन करनेवाला अन्य समय बहिरात्मा है और राग-द्वेष बिल्कुल नहीं और अकेले आनन्द का पूर्ण अनुभव है, वह स्वसमय परमात्मा है। समझ में आया? आहाहा! दया का भाव, परजीव की दया का भाव, वह मेरा है (ऐसा मानता है), तब तक वह बहिरात्मा है क्योंकि वह भाव स्वरूप

में नहीं है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वे बहिर् हैं। वे अन्तरात्मा में नहीं हैं, इसलिए अन्तरात्मा पंच महाव्रत के परिणाम को अपना नहीं मानता, तथापि होते हैं, इसलिए ज्ञानी को कर्मचेतना भी है और कर्मफलचेतना भी है। आहाहा! यहाँ अन्य समय अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त अन्य समय लिया है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी जिनेश्वरदेव को यहाँ स्वसमय में लिया है। बाकी के को अन्य समय में लिया है। पहले से बारहवें तक अन्य समय। पहले में बहिरात्मा है, परन्तु चौथे से बारहवें गुणस्थान तक अन्य समय है। आहाहा!

(परमात्मा के अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार के हैं; उनमें बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि... आहाहा! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी (को) जैनपने की खबर नहीं है। जैन किसे कहना? यह देह और इन्द्रिय तथा पुण्य और दया, दान के भाव, वे मेरे हैं—(ऐसा) माने, वह जैन नहीं है। आहाहा! वह बहिरात्मा अन्य है। आहाहा! भारी कठिन।

मुमुक्षु : तो जैनों की संख्या बहुत कम हो जाएगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : संख्या भले एक ही हो। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्य को सत्य की आवश्यकता है। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है, तो भी सत्य तो असंख्य पड़े हैं। तिर्यच समकिति। आहाहा!

अन्य समय। बारहवें गुणस्थान तक अन्य समय कहे, तेरहवें गुणस्थान में स्वसमय कहा यहाँ। और दूसरी जगह चौथे गुणस्थान से स्वसमय लिया। समयसार की शुरुआत करते हुए दूसरी गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पोग्गलकम्मपदेसट्टिदं च तं जाण परसमयं' जो कोई राग और द्वेष में रहता है, वह परसमय है। वह अत्यन्त मिथ्यादृष्टि है। दूसरी गाथा। 'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो' तीन को इकट्ठा लिया है। इसलिए कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह सब कथन सातवें गुणस्थान के लिये है, तो फिर यह अष्टपाहुड़ में समकित पाहुड़, समयसार में १४वीं गाथा वह सब समकित की है। समझ में आया? बहुत चर्चा चलती है। आहाहा!

यहाँ तो अन्य समय में (उसे कहा कि) जब तक राग का अंश भी अपने में मानता नहीं परन्तु, है। मानता है, वह बहिरात्मा है। अपना मानता नहीं, वह अन्तरात्मा है और तब

तक अभी अन्य समय में है। आहाहा! और रागरहित दशा, केवलज्ञान परमात्मा की दशा, वह मोक्षदशा है। वह परमात्मा ज्ञानचेतना है। यह बात इतनी अधिक लम्बी है। अन्तरात्मा दो प्रकार से है। क्या कहा? अन्य समय के दो अर्थ लिये हैं। एक बहिरात्मा भी अन्य समय और एक अन्तरात्मा भी अन्य समय, परन्तु बहिरात्मा राग को अपना मानता है, समकित्ती अपना नहीं मानता, तथापि राग मिटा नहीं है; इसलिए उसे अन्य समय में डाला है। आहाहा! अब ऐसा सब। वह तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, रात्रिभोजन नहीं करो (तो) धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं है। ऐसा अनन्त बार किया है, भाई! चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पूर्णानन्द की शान्ति से भरा हुआ, उसका वेदन और श्रद्धा-ज्ञान हुए बिना धर्म की पहली सीढ़ी-शुरुआत भी नहीं होती। चाहे जितनी क्रिया करे, व्रत, तप और भक्ति-पूजा (करे) परन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

अन्य समय के दो प्रकार : बहिरात्मा और अन्तरात्मा। उन्हें यहाँ अन्य समय में डाला है। आहाहा! और उनमें बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धिवाला होता है। आहाहा! देह-मन-इन्द्रियाँ जो नजदीक हैं, वे मेरे हैं। मैं इन्द्रियों से जानता हूँ, मन से जानता हूँ और पर को जाननेवाला अपने को माने, वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है। बहिरात्मा देह-इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धिवाला होता है। अन्तरात्मा ऐसा नहीं होता और परमात्मा तो रागरहित है।

दूसरा श्लोक।

जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट-भेदादविरतः सुदृक् ।

प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमोमध्यमस्तयोः ॥

अन्तरात्मा—धर्मात्मा—धर्म की शुरुआतवाला, ऐसा कहते हैं, धर्म की शुरुआतवाला। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव जिनेश्वरदेव की वाणी में, मुखारविन्द में से निकली हुई वह वाणी यह है। यह ऐसा कहते हैं कि अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं;... अन्तरात्मा अर्थात् चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक। उसके तीन भेद हैं : जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। आहाहा!

अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अन्तरात्मा है,... परन्तु अन्तरात्मा है न? आहाहा! अविरत, भले विरति नहीं। चारित्र का आचरण नहीं। राज और पाट, परिवार में

बड़ा दिखायी दे, तथापि अन्तर में वह अविरति सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। आहाहा! गृहस्थाश्रम में भी आत्मा में लीन हो सकता है। कोई ऐसा कहे कि मुनि के लिये लीनता होती है। योगीन्द्रदेव में आया न? भाई! योगीन्द्रदेव में ६५ गाथा और १८, दो में। 'गृहकार्य करते हुए जो आतमरस लीन।' कल सज्जाय हुई न? योगसार। उसमें यह आया। 'गृह काम करते हुए अन्तर आतमरस लीन।' आहाहा! वह काम में भले दिखायी दे परन्तु अन्दर में उस काम से भिन्न है। जैसे नारियल में गोला भिन्न है, वैसे चैतन्य भगवान... आहाहा! देह-देवल के परमाणु यह मिट्टी-धूल है, इस मिट्टी से एकदम भिन्न है। आहाहा! उसी और उसी का कहीं आदर नहीं। समझ में आया ?

अन्तरात्मा। चैतन्यस्वरूप अनाकुल आनन्द का कन्द और रसकन्द आत्मा है। उसमें उसे पुण्य-पाप हो परन्तु उन्हें अपना माने नहीं। अस्थिरता हो, तथापि अपने मानने की श्रद्धा अन्तर में (नहीं है); इसलिए चौथे गुणस्थान से जघन्य अन्तरात्मा ज्ञानी कहने में आया है। समयसार के अर्थ में आता है (कि) ज्ञानी किसे कहना? तीन प्रकार आते हैं न? ऐसे सब ज्ञानी ही है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप है न! सब भगवान है। सभी आत्माएँ भगवान हैं। अन्दर पूर्णानन्द और ज्ञान से भरपूर हैं, भगवान हैं। ऐसा देखें तो आत्मा तो भगवान कहा। आहाहा! परन्तु उसमें राग-द्वेष को, पुण्य-पाप तत्त्व को वह यदि अपने में खतौनी करता हो तो वह बहिरात्मा है और वही गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, वस्तु में लीन रहने पर भी... है न यह? कल सज्जाय आयी है न? सज्जाय-स्वाध्याय। 'गृह काम करते हुए जो आतमरस लीन।'

मुमुक्षु : हेयाहेय का ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आहाहा! गृहस्थाश्रम में पड़ा हो। छह खण्ड का राज चक्रवर्ती का। छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें करोड़ सैनिक! छियानवें करोड़ गाँव, तथापि वह अन्तरात्मा है। आहाहा! उस चीज को अपनी नहीं मानता। आहाहा! नजर करता है, जानपना करता है। आहाहा! जैसे माता-जननी स्नान करती हो और नग्न दिखायी पड़े-नजर पड़े परन्तु उसमें मेरी माँ है, यह हटता नहीं। यह तो मेरी जननी है। दिखायी दे, नजर से देखे तो नजर वहाँ टिकती नहीं। ऐसी नजर गयी, नहाती हो और खाट के आड़ में नहावे न? फिर खड़े होकर माता कपड़े पहनती हो, तथापि

दिखने पर भी यह माता है, यह बात हटती नहीं। इसी प्रकार राग-द्वेष रहे होने पर भी वह मेरी चीज़ नहीं, यह बात ज्ञानी को हटती नहीं। आहाहा!

क्षीणमोह वह अन्तिम (उत्कृष्ट) अन्तरात्मा है... बारहवें गुणस्थान में। यह तो अन्तिम स्थिति। केवल (ज्ञान) लेने की तैयारी। **और उन दो के मध्य में स्थित वह मध्यम अन्तरात्मा है।** पाँचवें से ग्यारहवें अन्तरात्मा। आहाहा! परन्तु है सब आत्मा के भानवाले। अन्तरात्मा और परमात्मा दोनों। भले अन्तरात्मा को अन्य समय कहा। अन्य समय कहा न। अन्य समय कहने पर भी वह अन्य समय की चीज़ जो राग की है, उसे अपना नहीं मानता। मात्र उसे राग है; इसलिए अन्य समय में डाला। किसका अर्थ हुआ यह? आहाहा! उसमें डाला न पहले अन्य समय? पहले श्लोक में। अन्य समय। आहाहा! वह राग में रहा होने पर भी, अन्य समय होने पर भी है वह अन्तरात्मा। आहाहा! और त्यागी हुआ द्रव्यलिंगी मुनि, हजारों रानियों को छोड़कर, तो भी अन्तर में राग के भाव के पक्ष में चढ़ गया है। भगवान के पक्ष से छूट गया है। स्वयं परमात्मा है, परमात्मा भगवान स्वयं है। आहाहा!

सब आत्माएँ भगवान हैं और सब आत्माएँ भगवान हो सकते हैं। आहाहा! ऐसा नहीं कि यह कसाईखाने का आत्मा है, इसलिए कभी छूटेगा ही नहीं। ऐसा कुछ नहीं है। यह दूसरे भव में, अरे! इस भव में छूट जाए। आहाहा! अन्दर महाप्रभु वस्तु पड़ी है, चैतन्यगंज पड़ा है। महासमुद्र-ज्ञान का महासमुद्र, आनन्द का समुद्र, शान्ति का समुद्र (पड़ा है), उसे जहाँ अपना जाना, उसमें राग के कण को अपना कैसे माने? आहाहा! ऐसी चीज़ को जहाँ माने, वह राग के कण को अपना कैसे माने? इसलिए उसे राग है, इससे अन्य समय कहा अवश्य, परन्तु वह है अन्तरात्मा। आहाहा! जघन्य अन्तरात्मा, क्षीणमोह अन्तिम और **दो के मध्य में स्थित वह मध्यम अन्तरात्मा है।** पाँचवें से ग्यारहवें तक। आहाहा! बहुतों को आचरण का जोर बताना है न, उन्हें ऐसा कि इसमें मुनि की ही व्याख्या है। समकित चौथे में हो, उसकी नहीं। सब मुनि की ही व्याख्या है, ऐसा (वे) कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो श्रेणिक राजा जैसे को हजारों रानियाँ थीं। हजारों राजा चंवर ढोरते, क्षायिक समकित्ती थे, परन्तु पहले बौद्ध को माननेवाले थे। उसमें से मुनि के निकट समकित प्राप्त

किया। तैंतीस सागर की नरक की स्थिति बाँधी थी, उसे तोड़कर चौरासी हजार वर्ष रह गयी। और है अन्तरात्मा। अभी अन्तरात्मा है। पहले नरक में हैं। आहाहा! समकित्ती को भी पहले नरक में जाना पड़ा। आयुष्य बँध गया था, जो लड्डू बँधे, उसमें से घी निकालकर फिर नवीन पूड़ी नहीं होती। लड्डू बँधा, उसमें से आटा निकालकर रोटी नयी नहीं होती। वह तो लड्डू खाना ही पड़ेगा। उस लड्डू को भले जरा थोड़े दिन सूखावे तो भी उसमें से... क्या कहलाता है? गेहूँ का आटा। गेहूँ का आटा है न उसमें? उसे निकाल सके और नवीन पूड़ी नहीं हो सकती।

इसी प्रकार आत्मा में दर्शन की प्रतीति होने से पहले नरक का आयुष्य बँध गया, तथापि अन्दर में से उसे छोड़कर वस्तु को पा सकता है। आहाहा!

एक व्यक्ति पूछता था, महाराज! मुझे आयुष्य बँध गया होगा? मेरे परिणाम बराबर सुधरते नहीं। ऐसा पूछा था। भाई! मोहनभाई ने। मोहनलाल कालीदास, राजकोट। साथ में रहते थे न पहले? अन्तिम समय साथ में थे तो एक बार पूछा, महाराज! यह परिणाम क्यों नहीं सुधरते? दक्षिण देश में सबको... क्या भाषा है न? स्वामी... स्वामी... कहते हैं। यशपालजी! दक्षिण देश में सबको स्वामी कहते हैं, ऐसा रिवाज है। भले बालक हो, उसे पूछना हो तो ऐई! स्वामी! ऐई स्वामी! ऐसा पूछते हैं।

मुमुक्षु : कर्नाटक में ऐसा पूछते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, सब देखा है न वहाँ। स्वामी कहते हैं। आहाहा! छोटा बालक खड़ा हो, उसे रास्ता पूछना हो ऐई, स्वामी! भाई! यह रास्ता कहाँ आया? परन्तु वह स्वामी तो अज्ञानी भले हो। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अन्तरात्मा पहले से यह चौदहवें तक तीन गुणस्थान में तो बहिरात्मा गिना, चौथे से समकित जघन्य अन्तरात्मा गिना, बारहवें में उत्कृष्ट और इसके अतिरिक्त मध्यम।

श्लोक-२५८

और (इस १४९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहज-परमावश्य-कर्म-प्रयुक्तः,
सन्सारोत्थ-प्रबल-सुखदुःखाटवी-दूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः,
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८ ॥

(वीरछन्द)

योगी सदा परम आवश्यक सहज कर्म से युक्त रहे ।
चहुँगति जन्य सौख्य-दुखरूपी अटवी से वह दूर रहे ॥
इसीलिए वह योगी है अति आत्मनिष्ठ अन्तर-आत्मा ।
स्वात्मा से जो भ्रष्ट हुआ बहितत्त्वनिष्ठ वह बहिरात्मा ॥२५८ ॥

[श्लोकार्थः] योगी सदा सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से दूरवर्ती होता है । इसलिए वह योगी अत्यंत आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है; जो स्वात्मा से भ्रष्ट हो, वह बहिःतत्त्वनिष्ठ (बाह्यतत्त्व में लीन) बहिरात्मा है ॥२५८ ॥

श्लोक - २५८ पर प्रवचन

२५८ श्लोक

योगी नित्यं सहज-परमावश्य-कर्म-प्रयुक्तः,
सन्सारोत्थ-प्रबल-सुखदुःखाटवी-दूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः,
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८ ॥

श्लोकार्थः योगी... अर्थात् आत्मा में जिसका जुड़ान है। आहाहा! भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें जिसका जुड़ान है। योग-जुड़ान। आहाहा! वह अन्तरात्मा है। वह सदा सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ... वह सदा अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द को अपना मानता हुआ, अनुभव करता हुआ। सदा-जब से सम्यग्दर्शन हुआ, तब से सदा आत्मा को वेदन करता है। आहाहा!

कितनों को ऐसा है न कि ज्ञान होने के बाद अकेला सुख का ही वेदन होता है। ऐसा नहीं है। सुख का भी वेदन होता है और दुःख का भी होता है, तथापि उस दुःख को अपना नहीं मानता। वेदन होता है। आहाहा! वेदन अर्थात्? राग हुआ, वह कहीं वेदन बिना होगा? और कर्म का बन्धन होता है, वह वेदन किये बिना बन्धन हो जाएगा? चौथे-पाँचवें-छठवें में भी कर्म बँधते हैं। इसलिए राग है, वेदन है; इसलिए बँधते हैं, तथापि उसे अपना नहीं मानता। यह यहाँ कहते हैं।

योगी सदा... सदा। धर्मात्मा तो सदा... आहाहा! सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ... स्वाभाविक परम आवश्यक-अवश्य की अन्तर की क्रिया, आत्मा में लीनतारूपी क्रिया, उसरूपी कर्म अर्थात् कार्य, उससे युक्त रहता हुआ। आहाहा! संसारजनित... आहाहा! भाषा देखो! संसारजनित प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से... समकिति को प्रबल सुख-दुःख की कल्पना आवे तो भी वह संसारजनित होने पर भी उससे दूरवर्ती होता है। है? ऐसा है, भान है, तथापि दूरवर्ती है। आहाहा!

लोगों को ऐसा जँचना कठिन पड़ता है क्योंकि उन्हें अभ्यास नहीं होता। बाहर का अभ्यास पूरे दिन। अन्तर कौन है? उसकी चीज़ बिना देह चला जाएगा। आहाहा! यह आत्मा कहीं चला नहीं जाएगा। चला नहीं जाएगा अर्थात् नाश नहीं होगा। चला जाएगा यहाँ से छूटेगा इसलिए। परन्तु कहीं वापस रास्ते में कहीं भव तो करेगा न? भव करेगा, उसमें किस प्रकार का भव करेगा? उसके भान बिना के जीव को संसार में भटकने का भव करेगा। नरक और निगोद, बाघ और सिंह... आहाहा! कूकड़ा और बिल्ली के अवतार होंगे, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं धर्मी जीव सदा (स्वाभाविक) सहज परम आवश्यक कर्म से युक्त रहता हुआ संसारजनित प्रबल... भाषा देखो! कर्म से उत्पन्न हुआ, ऐसी भाषा नहीं

है। क्या कहा? समकिति को कर्म से उत्पन्न हुए राग-द्वेष, ऐसा नहीं तथा उसने उत्पन्न किए, ऐसा भी शब्द नहीं। आहाहा! क्या कहा आत्मज्ञानी धर्मी जीव को पहले ही धर्म की शुरुआत में पहली सीढ़ी में उसे **संसारजनित प्रबल...** गजब किया है न! आहाहा! स्वयं से उत्पन्न किया नहीं। संसार है इतना। उससे उत्पन्न होता है, तथापि उससे दूर वर्तता है। धर्मी उससे दूर वर्तता है। आहाहा! होता है तो भी दूरवर्ती और राग-द्वेष नहीं करता तो भी अन्तर की गहराई में राग की एकताबुद्धि हो... आहाहा! वह तो राग के समीप में वर्तता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **योगी सदा सहज परम आवश्यक...** (अवश्य की क्रिया) **कर्म से युक्त...** (सहज) **रहता हुआ संसारजनित प्रबल...** आहाहा! गजब भाषा की है। आहाहा! **'संसारोत्थ'** है न? दूसरा पद। **संसारोत्थ** आहाहा! संसार किसे कहते हैं, ऐसा समझाया है। संसार, वह स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब नहीं। व्यापार-धन्धा, स्त्री, कुटुम्ब यह संसार नहीं। आहाहा! संसारजनित, परिभ्रमण से उत्पन्न होने में संसरण, आत्मा को छोड़कर पर्याय में संसारजनित विकार। आहाहा! आत्मजनित नहीं, परजनित नहीं। आहाहा! यह संसार—संसरण इति संसार—स्वरूप में से हट जाना, ऐसी दशा को संसार कहते हैं। वह **संसारजनित प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी...** बड़ी अटवी-वन। उससे धर्मी **दूरवर्ती** होता है। आहाहा! गजब है!

विशिष्टता तो यह है कि संसारजनित शब्द। आत्मा को कर्म की कमजोरी से हुआ, यह तो नहीं, परन्तु स्वयं से हुआ, यह संसारजनित। संसार है, वह आत्मा का नहीं। यह राग पुण्य-पाप, वह संसार है। वह आत्मा का नहीं। आहाहा! अर्थात् संसारजनित विकार को धर्मी जीव अपना नहीं मानता। आहाहा! वह राग धर्मजनित नहीं। राग और द्वेष के विकल्प उठें, वे धर्मजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा! ऐसी तो भाषा स्पष्ट पड़ी है, तो भी विकार कर्म के कारण होता है... कर्म के कारण होता है, (ऐसा लोग कहते हैं)। शास्त्र में पाठ ऐसा आवे, कर्म के निमित्त से विकार होता है, निमित्त से विकार होता है, ऐसा पाठ आवे। निमित्त से होता है, इसका अर्थ कि वह है और अपने को परलक्ष्य से होता है। आहाहा!

यह शब्द जो आचार्य ने रखा है, यह तो पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं। **संसारजनित...** आहाहा! अपने से उत्पन्न हुआ नहीं, कर्म से उत्पन्न हुआ नहीं। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव, यह सुख-दुःख की कल्पना के भाव, समकिति को संसारजनित हैं।

आत्मजनित, स्वभावजनित नहीं हैं। आहाहा! तथा कर्मजनित तो है ही नहीं। पर के कारण विकार होता है, यह तो है ही नहीं। आहाहा! गजब काम किया है! संसारजनित। संसार कोई अलग चीज़ होगी? अलग है। आत्मद्रव्य से संसार-विकृत अवस्था अलग है। आहाहा! वह भिन्न में उत्पन्न होने से विकार... आहाहा! उससे दूरवर्ती है। आहाहा!

राग और द्वेष के विकल्प, इच्छा—अनेक प्रकार की इच्छा की कल्पनाएँ होती हैं। चक्रवर्ती समकिति होवे और हो परन्तु वह संसारजनित है, आत्मजनित नहीं तथा कर्म ने उत्पन्न कराया, ऐसा भी नहीं। आहाहा! गजब अर्थ लिखा है। संसारजनित विकार। संसार स्वयं विकार है। संसार, संसरण इति संसार। स्वभाव में से हटना और राग-द्वेष में (आना), वह संसार है। अतः यही कहा। धर्मी को लेना है न? इसलिए धर्मी स्वयं आनन्दकन्द के स्वरूप में है, इसलिए जो विकार होता है, वह संसारजनित है। आहाहा! अपने अपराधजनित है, उसे संसारजनित कहा है। समझ में आया? बात तो बहुत अलग है। अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होते भाव हैं ये, तथापि यह भाव-संसार वह मेरा नहीं। स्वरूप में से हट जाना, ऐसा मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा!

इसलिए स्वरूप में दृष्टि होने के कारण; ज्ञानी को जो रागादि दोष उत्पन्न होते हैं, सुख-दुःख के भाव होते हैं, वे संसारजनित हैं। आहाहा! ज्ञानी संसार को अपना नहीं मानता। वापस संसार कहाँ रहता है, यह भी सिद्ध किया। संसार जीव की विकारी पर्याय है। संसार कोई स्त्री, पुत्र, परिवार (नहीं है)। स्त्री, पुत्र, परिवार छोड़ा, इसीलिए संसार छोड़ा, ऐसा नहीं है। करोड़ों की आमदनी का धन्धा छोड़ा, दुकान बन्द कर दी (और) त्यागी (हो गया), वह त्याग नहीं है। आहाहा! गजब है न! देवीलालजी! संसारजनित यह और तीसरी बात। आत्मजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा!

धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव को प्रबलरूप से चैतन्य के स्वभाव का भान और अनुभव तथा वेदन होने से, वह संसारजनित जो कुछ विकृत अवस्था है... आहाहा! उससे वह दूर वर्तता है। दूर वर्तता है। आहाहा! आत्मा ने किया, प्रबल रूप से पर्याय में वर्तता है, ऐसा न लेकर... आहाहा! भाषा तो देखो! नहीं तो धर्मी को आत्मा की पर्याय में कमजोरी के परिणाम होते हैं। वह तो संसारजनित विकार है। स्वभावजनित नहीं, कर्मजनित नहीं। आहाहा! क्योंकि दूसरा द्रव्य उसे कराता नहीं और स्वभाव में राग होता नहीं। स्वभाव में राग है नहीं; इसलिए पर्याय में संसारजनित राग होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

पर्याय में... आहाहा! उसका जाननेवाला-देखनेवाला रहता है, इसलिए उस विकार को संसारजनित कहा है। संसार कोई दूसरी चीज़ नहीं है। स्वरूप में से हट जाना, इसलिए उत्पन्न होता है परन्तु हट जाना, ऐसा न गिनकर, स्वरूप में से हट गया है, इतना समकित का भान है और हट गया, इसलिए राग-द्वेष हुआ है, इतना भी नहीं। वह संसारजनित विकार है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! गजब किया है। आहाहा! लोग शोर मचाते हैं, कर्मजनित राग-द्वेष होते हैं, हम कर्म के कारण भटकते हैं, यह एकदम झूठी बात है तथा आत्मा के स्वभाव के कारण हम भटकते हैं, यह भी झूठी बात है। आहाहा!

स्वभाव जानने पर भी जो विकार होता है... आहाहा! गजब काम! वह संसारजनित विकार है। गजब बात! संसार कोई दूसरी चीज़ है? इसलिए कहते हैं, त्रिकाली जो आत्मा मुक्तस्वरूप है... आहाहा! उसका भान वर्तता है। भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है। सूक्ष्म पड़े, प्रभु! परन्तु यह करना पड़ेगा। आहाहा! आठ-आठ वर्ष के लड़के दरकार करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। आहाहा! गजब किया है। आहाहा! संसारजनित, भाषा कैसी!

मुमुक्षु : ७५वीं गाथा में तो कर्मजनित कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसमें?

मुमुक्षु : समयसार ७५ गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सी?

मुमुक्षु : ७५-७५।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो और अलग प्रकार। वहाँ तो स्वभाव का भान है, इसलिए एक अलग चीज़ उसे गिना है, इसलिए वह तो कर्म कर्ता है और विकार उसका कार्य है, समकित्ती को। यहाँ तो स्पष्ट कर दिया। आहाहा! वह विकार की कमजोरी के कारण विकार हुआ, ऐसा शब्द न प्रयोग करते हुए... आहाहा! सन्तों की वाणी, बापू! दिगम्बर सन्तों की वाणी... ओहोहो! गहरी, गम्भीरता का पार नहीं होता। आहाहा!

भगवान आत्मा राग के विकल्प से पार निर्विकल्प चीज़ है। ऐसी श्रद्धा और अनुभव होने पर भी कहते हैं, संसारजनित राग-द्वेष होते हैं। वह संसारजनित है। आहाहा! कर्म से नहीं। आहाहा! पुरुषार्थ की कमजोरी, ऐसा न कहकर, संसारजनित विकार है।

आहाहा! नहीं तो अपनी कमजोरी से हुआ है, ऐसा न कहकर... आहाहा! वह मुझमें है ही नहीं, इसलिए प्रश्न क्या? कहते हैं। कमजोरी से होता है, (ऐसा कहने पर) वह मुझमें है, ऐसा आया। यह तो संसारजनित है। आहाहा! गजब काम किया है।

संसारजनित... संसार-संसरणदशा से उत्पन्न हुआ **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी...** देखा, आहाहा! प्रबल। दो शब्द प्रयोग किये हैं। कठोर क्रोध, मान, माया हो। आहाहा! संसारजनित और कठोर, क्रोध, मान, माया हो। है न? आहाहा! **प्रबल सुखदुःखरूपी अटवी से...** सुख-दुःखरूपी वन। आहाहा!

मुमुक्षु : योगी को संज्वलन कषाय हो, यहाँ प्रबल कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रबल ही है। कषाय वस्तु कहाँ है? वस्तु में विकल्प उठे, वह प्रबल है। निर्विकल्प वस्तु है। आहाहा! आनन्द का सागर है। जहाँ स्त्री, पुत्र का तो स्पर्श भी नहीं। आहाहा! मकान का और इज्जत का स्पर्श नहीं। हमेशा साबुन द्वारा नहाता है परन्तु यह कहते हैं, उसे यह तो स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! पानी, शरीर को स्पर्श नहीं करता; शरीर, पानी को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र ज्ञानी को संसारजनित जरा राग होता है, विकार होता है, तथापि समकिति उससे दूर वर्तता है। आहाहा! मानों कि कोई दूसरी चीज़ से उत्पन्न हुआ हो ऐसे। अपनी चीज़ से नहीं, कर्म से नहीं। कर्म से विकार तो नहीं, क्योंकि (कर्म) परद्रव्य है परन्तु एक संसारजनित अन्दर... आहाहा! अपनी कमजोरी से समकिति को भी राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया (लोभ) होते हैं। आहाहा!

१४ और १०, चौबीस प्रकार का परिग्रह है न? भाई! चौबीस प्रकार का परिग्रह। उनमें दस प्रकार का परिग्रह बाह्य है। क्षेत्र, मकान है न? सोना, चाँदी... आहाहा! दास, दासी, कपड़ा, बर्तन यह दस प्रकार का परिग्रह बाह्य है। समझ में आया? प्रभु ने चौबीस प्रकार का परिग्रह गिना है। यह दस हुए। क्षेत्र और मकान। क्षेत्र खाली और मकान चिना हुआ। सोना और चाँदी, दास और दासी, बर्तन और कपड़े... आहाहा! यह परिग्रह है। दास और दासी। दास और दासी, वह बाह्यपरिग्रह है। आहाहा! सोना और चाँदी, वह परिग्रह है। पुण्य के कारण प्राप्त हुए हैं, परन्तु है पाप परिग्रह। आहाहा! पुण्य के कारण पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये मिले परन्तु वह पापी है। वह वस्तु पाप है। संसारजनित विकार है। आहाहा! उस वस्तु से भी नहीं। वह बाह्य चीज़ मिली, उससे भी नहीं। आत्मा से तो नहीं

परन्तु उससे भी नहीं। मात्र पर्याय में संसारजनित शब्द कहना। आहाहा! संसार-पर्याय में जरा स्वभाव में से हटता है, उससे उत्पन्न हुए राग और द्वेष। सूक्ष्म है, प्रभु! आहाहा! प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। तेरी महत्ता... आहाहा! महत्ता और महिमा... आहाहा! तू कोई रंक नहीं; तू तो चैतन्यरत्न भरपूर भगवान है। कहते हैं, ऐसा भान हुआ, पश्चात् उससे विरुद्ध जो कुछ हो, उसे संसारजनित गिनकर दूरवर्ती वर्तता है। आहा! मुझमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दूर, ऐसा नहीं। आहाहा! बात समझ में आती है? है न? विमलचन्द्रजी! संसारजनित। आहाहा! यह क्या है?

एक ओर कहते हैं, कर्म से होता है। शास्त्र में भी ऐसा आता है, समकिति को कर्म से विकार होता है और कर्म, व्यापक; विकार व्याप्य। व्याप्य अर्थात् अवस्था-कार्य। कर्ता, कर्म। कार्य, विकार। परन्तु समकिति को। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि संसारजनित कार्य से दूरवर्ती है। आहाहा! क्षेत्र से दूरवर्ती नहीं। क्षेत्र तो उसकी पर्याय में है परन्तु वास्तविक क्षेत्र देखो तो विकार का क्षेत्र, वह अपना नहीं है। आहाहा! यह आता है या नहीं? संवर अधिकार में। संवर अधिकार, समयसार। विकार का क्षेत्र अलग है। आहाहा! आत्मा के क्षेत्र से विकार का क्षेत्र अलग है। आहाहा! एक समय की पर्याय में विकार उत्पन्न हो, उस स्वक्षेत्र से परक्षेत्र भिन्न है। आहाहा! गजब बात है। ऐसा तो कभी सुना नहीं होगा। ऐसा का ऐसा दिये रखते हैं। आहाहा! यह तो मुनि हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। कहते हैं कि छठवें में वह विकल्प जो उठता है, वह संसारजनित है। मैं दूरवर्ती हूँ। आहाहा! ऐसा समकिति भी... आहाहा! विकार में वर्तता नहीं। वह संसारजनित है, दूरवर्ती है। आहाहा! उससे-अटवी से दूरवर्ती होता है।

इसलिए वह योगी अत्यंत आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है;... यह तो अन्तर आत्मा में निष्ठ है। आत्मा में निष्ठ है। आहाहा! गजब बात है। प्रश्न करना हो तो रात्रि (चर्चा) में करना। आहाहा! आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है;... विकार होने पर भी धर्मी आत्मनिष्ठ है, आत्मा में स्थिर है। आहाहा! जो आत्मा से भ्रष्ट हो, आत्मा के ज्ञानानन्द से भ्रष्ट हो, वह बहिरूतत्त्व निष्ठ है। वह बाह्यतत्त्व में स्थिर है, वह राग में स्थिर है, पुण्य में स्थिर है, पुण्य के फल में स्थिर है। उसे यहाँ बाह्यतत्त्व कहा गया है, उसे बहिरात्मा कहने में आया है। आहाहा! विशेष है....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)